IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

प्रेमचंद की पत्रकारिता और हंस

डॉ. धनंजय कुमार दुबे

प्रेमचंद की सबसे अधिक चर्चा ग्राम समाज के कुशल चितेरे कथाकार और उपन्यास सम्राट के रूप में होती है. इसके अतिरिक्त प्रेमचंद के विचारक, चिंतक और लेखक का एक और उल्लेखनीय पक्ष है, उनके पत्रकार रूप का. आजादी के दौर के अधिकांश लेखकों के संदर्भ में यह बात कही जा सकती है कि वे सभी पत्रकार भी थे. वे या तो स्वयं कोई पत्र/पत्रिका निकालते थे अथवा किसी न किसी रूप में उससे जुड़े अवश्य थे. फिर प्रेमचंद जैसा समाजचेत्ता रचनाकार के लिए तो यह और भी जरूरी और स्वाभाविक था. प्रेमचंद ने कई पत्रिकाओं में अपना हाथ आजमाया. जमाना, मर्यादा, माधुरी और चाँद पत्रिका से वे जुड़े रहे और उन अनुभवों का लाभ उठाते हुए उन्होंने 1930 में 'हंस' को आरंभ किया. 'हंस' का प्रकाशन मार्च 1930 में काशी से एक साहित्यिक कथा मासिक पत्रिका के रूप में हुआ. लेकिन इसके विषय क्षेत्र का विस्तार सिर्फ कथा साहित्य तक न होकर उस दौर के जीवन और विचार के प्रत्येक क्षेत्र तक था. साहित्य से लेकर संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति, मनोविज्ञान समेत देश दुनिया की तमाम हलचलों पर 'हंस' की सजग दृष्टि रही. प्रेमचंद ने अपनी समझ और लेखन से 'हंस' को सामंती सोच और आचरण से मुक्ति के साथ ही स्वाधीनता आंदोलन के मुखपत्र के रूप में विकसित किया.

पत्रकारिता के माध्यम से प्रेमचंद ने एक ओर जनसामान्य में राष्ट्र गौरव का भाव तथा उसकी स्वाधीनता के आंदोलन के प्रति जुड़ाव का भाव विकसित करने का प्रयास किया, वहीं विदेशी सरकार की कुदृष्टि भी 'हंस' के प्रति बनी रही. इस दौर में पत्रकारिता करना और वह भी जनसरोकार की पत्रकारिता करना, किसी भी तरह से आर्थिक रूप से हितकर कार्य न था. इंग्लैंड में पत्रकारिता की ताकत का एहसास कर चुकी ब्रितानी सरकार को जनसरोकारों से जुड़ी पत्रकारिता की ताकत का पता था और वह हमेशा इस तरह की पत्रकारिता के प्रति सजग और अंदर से भयभीत रहा करती थी. ऐसे में सरकार, राष्ट्रवादी या सामाजिक चेतना से जुड़े पत्रों को कुचलने का कोई भी अवसर छोडती नहीं थी. किसी भी प्रकाशित सामग्री पर आपत्ति जताते हुए पत्रों के ऊपर जमानत के रूप में भारी जुर्माना लगा दिया जाता था और भी अनेक तरह से पत्रकारों, लेखकों, संपादकों को परेशान किया जाता था. सरकारी कोप और जनता में पत्रकारिता के प्रति चेतना का विकसित न होने से पत्रों को लगातार आर्थिक संकटों से जूझना होता था. यही वजह थी कि आरंभिक दौर के अनेक पत्र असमय काल-कवलित हो गए. यह तो राष्ट्र और समाज के लिए कुछ भी कर गुजरने का प्रण ही था कि उस दौर के प्रकाशकों और संपादकों की हिम्मत लगातार विपरीत परिस्थितियों में भी कमजोर नहीं पड़ती थी बल्कि यह चुनौती उनकी प्रेरणा, उनका संबल बनती थीं और सरकारी कोप के बावजूद पत्रकारिता चलती रहती थी. प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' भी आर्थिक संकट की इस नियति से अलग न था,[1] इसके बावजूद प्रेमचंद आजीवन 'हंस' का संपादन करते रहे.

प्रेमचंद भारतीय पत्रकारिता के उन आरंभिक उन्नायकों में से हैं, जिन्होने पत्रकारिता के आदर्श, उसके कर्तव्य निर्धारित किए. उन्होने यह साबित किया कि पत्रकारिता का जन्म ही हुआ है जनसमान्य तक सही सूचनाओं को पहुंचाने के लिए, उन्हें जागरूक करने और उनकी आवाज को संगठित तरीके से उठाने के लिए, उसके लिए संघर्ष करने के लिए. इसलिए पत्रकारिता की दुनिया में किसी भय, लोभ, आलस या देरी के लिए कोई जगह नहीं. पत्रकारिता का मुख्य धर्म ही है बिना लाग-लपेट सच को सबके सामने लाना और जनसामान्य के हितों की रखवाली करना, उन्हें जागरूक करना और न्याय की स्थापना के लिए संघर्ष करना. पराधीन देश में पत्रकारिता के इन आदर्शों को अपने आचरण और एजेंडे में उतारना अत्यंत कठिन कार्य था. ऐसा करने का अर्थ था: सामाजिक और धार्मिक सत्ताओं से लेकर राजनीतिक सत्ता से भी सीधे टकराना, जिसके लिए जेल, जुर्माने से लेकर अन्य कई प्रकार की चुनौतियों से भी जूझने को तैयार रहना होता था. सरकारी दमन और कोप के बावजूद अन्य पत्रकारों की भांति प्रेमचंद ने भी हमेशा राष्ट्र के स्वाधीनता और सामाजिक मुद्दों को कभी सीधे-सीधे तो कभी व्यंग्य के माध्यम से प्रकाशित

करते रहे, सरकारी दंड भी भुगतते रहे लेकिन कभी पीछे नहीं हटे. इन्हीं संघर्षों के दम पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के आदर्शों के साथ भारतीय पत्रकारिता विकसित हुई[2] और उसने आगे चलकर लोक रक्षक और लोकतन्त्र के प्रहरी के रूप में चौथे स्तम्भ की अपनी पहचान बनाई.

'हंस' के जन्म तक प्रेमचंद, ग्राम समाज के कुशल चितेरे कथाकार के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे. प्रेमचंद के आदर्श एवं उनके कंसर्न सिर्फ उनकी कथा साहित्य में व्यक्त होने वाले स्वप्न मात्र न थे. वे वास्तविक जीवन में भी वे उन चुनौतियों से जूझते हुए, उनका डटकर सामना करने और एक बेहतर समाज बनाने को अनवरत प्रयत्नशील रहे. लगातार सभी तरह की कठिनाइयों से वे संघर्ष करते रहे और अपने निर्धारित नीति और उद्देश्यों के तहत 'हंस' को आगे बढ़ाते रहे. प्रेमचंद पत्रकारिता को व्यवसाय नहीं मिशन मानते थे. यही वजह है कि साहित्य कथा मासिक होने के बावजूद 'हंस' साहित्य के शास्त्रीय मानकों में कभी नहीं बंधा, अपितु देश, समाज और राजनीति के प्रति चिंता, पराधीनता के विरुद्ध उद्घोष और सामंती सोच और आचरण से मुक्ति सदैव उसके मुख्य एजेंडे में सबसे आगे बने रहे. 'हंस' के प्रथम अंक में संपादकीय मंतव्य लिखते हुए प्रेमचंद ने घोषणा की-

"हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में नए युग का आगमन हो रहा है. जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है. इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी. बहुत छोटी छोटी, तुच्छ विजयों पर बड़ी बड़ी शानदार यादगार बन चुकी हैं. इस महान विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनावेंगे, यह तो भविष्य की बात है, पर यह एक ऐसी वजह है, जिसकी नजीर संसार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी. ...भारत के कर्णधार महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी. अब वह बढ़ेगा, फूले-फलेगा. ...इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे. वह दिन देर में आएगा या जल्द से जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है. हां, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें. यही हंस का ध्येय होगा और इसी के अनुरूप उसकी नीति होगी. ...भारत ने शांतिमय समर की भेरी बजा दी है. हंस भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्हीं सी सोच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पाटने-- आजादी के जंग में योग देने-- चला है. ...साहित्य और समाज में वह उन गुणों का परिचय देगा जो परंपरा ने उसे प्रदान किए हैं".[3]

हंस के प्रथमांक में ही इसे स्वाधीनता का सिपाही घोषित करने के साथ ही ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तावित डोमिनियन स्टेटस के मुद्दे पर भी बड़ी ही बेबाकी से यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय जनता और स्वाधीनता संघर्ष को हल्के में लेने की भूल न तो सरकार को करनी चाहिए ना ही सरकार के पिछलग्गू समर्थकों को. वे लिखते हैं-

"...न डोमिनियन मांगे से मिलेगा, ना स्वराज्य. जो शक्ति डोमिनियन छीन कर ले सकती है वह स्वराज भी ले सकती है. इंग्लैंड के लिए दोनों समान हैं. डोमिनियन स्टेटस में गोलमेज कांफ्रेंस का उलझावा है; इसलिए वह भारत को उलझावे में डालकर बहुत भारत पर बहुत दिनों तक राज कर सकती है. फिर उसमें किस्तों की गुंजाइश है, और किस्तों की अवधि 1000 वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है. ...डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे-महराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं. क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज की दशा में उन्हें बहुत कुछ दब कर रहना पड़ेगा? स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी. क्या यह लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे हैं? स्वराज्य गरीबों की आवाज है, डोमिनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की."[4]

'हंस' के पहले ही अंक में प्रेमचंद ने राष्ट्र की स्वाधीनता और मेहनतकशों की आवाज को अपनी पत्रकारिता का लक्ष्य घोषित कर दिया और हंस की नीति इसी दिशा में सतत कार्य करने की रहेगी, यह बिना किसी आवरण के स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया. अपने लक्ष्य और नीति को इस तरह डंके की चोट पर कह देने का साहस और निर्भीकता बहुत कम पत्रकारों में पायी जाती है. इन उद्देश्यों के आलोक में प्रेमचंद ने 'हंस' को लगातार आगे बढ़ाया. विदेशी शासकों द्वारा सरस्वती प्रेस और 'हंस' पर लगातार जुर्माना किया गया परंतु प्रेमचंद अपने उद्देश्य से डिगे नहीं और परिस्थिति की कड़ी मार के बावजूद उनके कलम की धार और तेज होती गई. प्रेमचंद ने स्वयं तो अपनी संपादकीय, टिप्पणियों, रिपोर्ट्स, कहानियों इत्यादि के द्वारा 'हंस' को समृद्ध किया साथ ही अपने समय के ज़्यादातर लेखकों को भी 'हंस' से जोड़ने के लिए लगातार प्रयासरत रहे.[5]

'हंस' को हालांकि प्रगतिशील विचारों का कथा मासिक पत्रिका माना गया तथापि नाटक, कविता, यात्रा-वृतांत, रिपोर्ट, समालोचना आदि को प्रेमचंद ने ससम्मान प्रकाशित किया. इस पत्रिका में विषयों की तो कोई सीमा ही नहीं रही. साहित्य, पर्यटन, मनोविज्ञान, आयुर्वेद से लेकर समाजोपयोगी और स्किल के कई क्षेत्र नियमित अंतराल पर 'हंस' के केंद्र में रहे. ज्ञान-विज्ञान से

लेकर शिक्षा व्यवस्था, स्त्रियों, विद्यार्थियों, युवाओं, सरकारी मुलाजिमों से लेकर किसानों मजदूरों तक को हंस ने सीधे-सीधे संबोधित करने का प्रयास किया. राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और समानता के मूलभूत आदर्शों की दृष्टि से सम्पन्न, स्पष्ट एवं सरल शैली एवं बेबाक अंदाज में प्रेमचंद ने 'हंस' को विशुद्ध स्थानीयता से राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता तक के मुद्दों को राष्ट्रीय-सामाजिक हितों के मद्देनजर संबोधित किया.

'हंस' ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली महत्वपूर्ण सामग्री, पुस्तकों तथा महत्वपूर्ण घटनाओं और गतिविधियों के प्रति एक सतर्क रिपोर्टर की भूमिका निभाया. विविध भाषाओं की सामग्री के अनुवाद आदि के सामंजस्य से प्रेमचंद के 'हंस' ने साहित्य को नई दिशा दी. आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माण में 'हंस' की महती भूमिका रही. 'हंस' हिंदी कथा साहित्य का प्रमुख साहित्यिक मासिक पत्र बना. प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेंद्र कुमार, विनोद शंकर व्यास व्यास, उपेंद्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा आदि के अलावा चंद्रगुप्त विद्यालंकार, भुवनेश्वर, अंचल, सुभद्राकुमारी चौहान, राधा-कृष्ण, अमृतलाल नागर, जनार्दन राय, उषा देवी मित्रा, कुमारी सुशीला आगा, कृष्णानंद गुप्त, पहाड़ी, ललित किशोर सिंह, शिवरानी देवी इत्यादि की कहानियां हंस में बार-बार प्रकाशित हुई. पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी हंस में रचनाएं लिखी. हंस ने अपने समय के मंजे हुए लेखकों को तो स्थान दिया ही, नई प्रतिभाओं को भी प्रोत्साहन दिया और उन्हें छापा. उसने आत्म चेतना और जनजागृति के यथार्थ और आदर्श को समान महत्व देते हुए उन्हें फेट कर मिला दिया और जातीय और परिवेशगत जरूरतों के अनुरूप उसे प्रस्तुत किया. हंस के आधा दर्जन विशेषांक भी प्रकाशित हुए जिसमें आत्मकथा अंक, स्वदेश अंक, काशी अंक, द्विवेदी अभिनंदन अंक, भारतेंदु अंक; शीर्षकों से प्रकाशित विशेषांकों में विपुल महत्वपूर्ण सामग्री शामिल की गई. इसके अतिरिक्त विविध भारतीय भाषाओं के अनुदित रचनाओं को भी हंस में सम्मान प्रकाशित किया गया. साहित्यिक मासिक होने के बावजूद एक जिम्मेदार और समर्पित साहित्यकार एवं पत्रकार का दायित्व निभाते हुए प्रेमचंद ने हंस में साहित्य के अतिरिक्त राष्ट्र, राजनीति, धर्म और सामाजिक मुद्दों पर बहसें चलाई और टिप्पणियां लिखी.

'हंस' को प्रेमचंद ने विशुद्ध राष्ट्रीयता का मुखपत्र बना दिया. अप्रैल 1930 में गांधी जी की दांडी यात्रा के समय उन्होंने गांधी जी के अहिंसा, सत्याग्रह का खुलकर समर्थन किया और ऐसे लोगों को जवाब देने का प्रयास किया जो यह कह रहे थे कि गांधी जी के आंदोलन के तरीके और सरकारी दमन से आंदोलन का विस्तार नहीं हो पा रहा है-

"नि:शस्त्र संग्राम का मूल तत्व क्या है? यही कि इसको हम इतना दमन करने पर मजबूर कर दें कि वह खुद अपनी ही निगाह में गिर जाय. खुद उसकी आत्मा उससे घृणा करने लगे, यहां तक कि उसकी पुलिस और सेना उसकी दमनकारी आज्ञाओं का पालन करने से इंकार कर दे. ...अविनय का एक शब्द भी हमारे मुंह से ना निकले अविनय का एक भी विचार हमारे मन में ना आवे. ऐसे विनय के आदर्श के सामने पशुबल बहुत दिनों तक अपना जोर नहीं दिखा सकता. ...क्या हम इन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं? आंदोलन इतने दमन के बाद भी क्या बढ़ता नहीं जा रहा है? उसका क्षेत्र विस्तृत नहीं होता जा रहा है? जिन शहरों में दस-बीस स्वयंसेवक न मिलते थे, उन्हीं शहरों में क्या अब दस-बीस आदमी रोज जेल नहीं जा रहे हैं? हम इसे अपनी विजय कहें या पराजय?"[6]

अपनी लेखनी से प्रखर राष्ट्रीयता और प्रगतिशील भावनाओं को अबाध गति से स्वर दिया इसी वर्ष उन्होंने 'जुलूस', 'शराब की दुकान', 'मैकू' जैसी राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने वाली कहानियां भी लिखी. नौकरशाही पर अंग्रेजी राज की नौकरशाही पर व्यंग करते हुए उन्हें लिखा -

"जैसे बच्चे हार जाते हैं और तो दांत काटने लगते हैं वही हाल नौकरशाही का हो रहा है. कहीं निहत्थे जनता पर गोलियां और डंडों की बौछार होती है तो कहीं फूट डालो की कोशिश हो रही है...ना कोई कानून, है ना कोई नीति और ना धर्म. बस जिधर देखिए उधर लबड़-धों-धों घबराए हुए आदमी की बौखलाहट."[7]

अँग्रेजी शासन द्वारा स्वराज्य आंदोलन पर बर्बरता पर प्रेमचंद आक्रोशित हो लिखते हैं; 'जब राजसंस्था अपने ही बनाए कानूनों को पैरों तले रौंदना शुरू करे, तो उसकी दशा उस पागल की सी समझनी चाहिए, जो आप ही अपने देह को दांतो से काटता है, आप ही अपना मांस नोचता है. ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नहीं रह सकता. उसकी जिंदगी का पैमाना लबरेज हो चुका है.[8]

प्रेमचंद राष्ट्र की आजादी की आंदोलन को मजबूत बनाने के लिए कटिबद्ध थे. वे भलीभांति समझ रहे थे सिर्फ अंग्रेजों की विदाई तक इस आंदोलन को सीमित नहीं रहना है. स्वराज्य संघर्ष का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब इसे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आजादी तक पहुंचाया जाएगा. जब किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और मज़लूमों को उनकी वास्तविक आजादी मिल सकेगी. जब हम सामंती और दकियानूसी विचारों से वह बाहर निकल पाएंगे. इसके बिना कोई भी आजादी, राजनीतिक परिवर्तन तो हो सकती थी लेकिन वह सही मायनों में भारत की जनता के लिए सच्ची आजादी नहीं हो सकती थी. प्रेमचंद जिस आजादी की कल्पना कर रहे थे, उसे तो वह नहीं देख पाए लेकिन उसके लिए उन्होंने अपनी पत्रिका के माध्यम से अनवरत संघर्ष किया, लोगों को जागरूक करने का यथेष्ट कार्य किया. सामंती व्यवस्था के ठेकेदारों की परेशानी और राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उनका नकारात्मक दृष्टिकोण भी प्रेमचंद से छिपा न था. प्रेमचंद ने उन्हें समझाने-बुझाने और राजी करने अन्यथा आजादी के यज्ञ में बाधा डालने पर उनके संभावित परिणामों से भी उन्हें आगाह करने के प्रयास लगातार किए.[9]

भूमंडलीकरण के नाम पर विश्व भर में पूंजी के बेरोक-टोक और आवारा भ्रमण को लेकर जो चिंताएँ वर्तमान समय में आकार ले रही हैं, उनके पीछे की मूल चिंता साम्राज्यवाद वह चरित्र, वह इतिहास रहा है जिसने अलग-अलग बहानों से दुनिया के अधिकांश हिस्से को अपने कब्जे में लिया और सदियों तक उनका शोषण किया. साम्राज्यवाद के इस चरित्र को प्रेमचंद बेपर्दा कर देते हैं, उसके ढकोसलों की पोल खोल देते हैं-

"साम्राज्यवादी राष्ट्र कृषि-प्रधान देशों तथा ऐसे प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व जमाए रखने की भरपूर चेष्टा करते हैं जहां कोयला, रबर, धातु, तेल आदि की उपज होती है क्योंकि यह सब उनके व्यवसाय के साधन हैं. इनके बिना उनका काम नहीं चल सकता. इसके साथ ही प्रचुर मात्रा में उनका जो माल तैयार होता है, उसकी खपत के लिए भी बाजार की आवश्यकता होती है. ...वे अपने अभीष्ट को छिपाए रखने के लिए बड़ी लंबी लंबी बातें करते हैं, खूब सहृदयता दिखाते हैं और सज्जनता प्रदर्शित करते हैं; किंतु इसकी ओट में अपने स्वार्थ-साधन और पिपासा-शमन के सिवा और कोई विचार वे नहीं रखते."[10]

अंग्रेजी शासन की औपनिवेशिक आधुनिकता धनी-गरीब, ऊंच-नीच, गांव-शहर, इन सबके बीच भेद और गहराई तेजी से बढ़ा रही थी. इस दरार को कम करना बहुत बड़ी चुनौती थी. इसे कम किए बगैर स्वराज्य आंदोलन को आगे बढ़ाना और उसे मजबूत करना कठिन था. प्रेमचंद ने इस चुनौती को समझा और डटकर उसका सामना किया. प्रेमचंद यहां गांधी जी से काफी प्रभावित दिखते हैं. वे पश्चिमी संस्कृति व्यामोह सेवा प्रभावित से प्रभावित और भारतीय संस्कृति के उच्चतम मूल्य और एक ऐसी भारतीय जड़ों वाली आधुनिकता के समर्थन में खड़े नजर आते हैं, जो उपनिवेशवाद के साथ-साथ सामंतवादी सोच विचार और आचरण के विरुद्ध भी डट कर खड़ा हो सके उसका मुकाबला कर सके. ग्राम समाज के गहरे जानकार और गांधी से गहरे प्रभावित प्रेमचंद कथनी और करनी की एकता तथा साध्य और साधन की शुद्धता पर बहुत अधिक बल देते थे. यही वजह है कि सत्य, सहानुभूति, ईमानदारी, त्याग, अहिंसा, सत्याग्रह, सहिष्णुता, समानता, बंधुत्व इत्यादि मूल्य उनके लिए सिर्फ किताबी मूल्य न थे. बल्कि उन्होंने उन्हें जीवन में भी अपनाया और आजीवन सामाजिक एकता की को बनाए रखने के लिए इन मूल्यों की अहमियत के पक्ष में कार्य करते रहे, कहानियों के माध्यम से भी और अपनी पत्रकारिता के माध्यम से भी. यही वजह है कि उनके यहाँ पाप और पुण्य भी आध्यात्मिक प्रश्न न होकर सामाजिक आचरण से जुड़े दुनियावी कर्म हैं. वे लिखते हैं -

"जिस काम से मनुष्य समाज को क्षति पहुंचती है, वह पाप है. जिससे उसका उपकार होता है वह पुण्य है. सामाजिक उपकार या अपकार से परे हमारे किसी कर्म का कोई महत्व नहीं है और मानव जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार की मर्यादा बांधता चला आता है. विभिन्न समाजों और श्रेणियों में यह मर्यादा भी भिन्न है. ...धर्म के पीछे क्या-क्या अत्याचार हुए हैं कौन नहीं जानता. आजकल धर्म का वह महत्व नहीं है. वह पद अब व्यापार को मिल गया है".[11]

जिस समाज में गरीबी, अभाव और पीड़ा को पूर्वजन्म से जोड़कर न्यायोचित ठहराने की परंपरा रही हो, ऐसे में 'हंस' ऐसी सोच और परंपरा पर सामने से प्रश्न करता है और उसे निरुत्तर कर देता है. इस तरह के विचारों को वैज्ञानिक सोच और आचरण से देखने की वकालत करता है और जनसमान्य को अपनी दुर्दशा और दीनता को समाप्त करने के लिए उठ खड़े होने की प्रेरणा देता है साथ ही नीति-निर्माताओं को भी कठघरे में ला खड़ा करता है जो अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने की बजाय उसकी कृत्रिम और अव्यवहारिक कारण गिनाने में अपना समय व्यतीत करते हैं -

"अर्थशास्त्र और राजनीति के वैज्ञानिक प्रयोग से वे सब सामाजिक रोग उसी प्रकार मिटाए जा सकते हैं, जैसे औषधि से जुकाम व बुखार. ...इस पृथ्वी पर ऐसे देश हैं, जिन्होंने वैदक-विज्ञान को काम में लाकर अपने यहां से अनेक रोगों को समूल नष्ट कर दिया है. ...राजनैतिक दृष्टि से हम मूढ़ हैं और इतने मूर्ख हैं कि हम यह नहीं समझते कि दरिद्रता भी एक प्राकृतिक घटना है, जो उसी प्रकार अपने वश में रखी जा सकती है, जैसे पेट का दर्द या जुखाम".[12]

अंग्रेजों ने फूट डालो की नीति को आगे बढ़ाने और स्वराज्य आंदोलन की ताकत को कमजोर करने के लिए धार्मिक, जातिगत और भाषायी प्रश्नो को खूब हवा दी. हिंदू-मुस्लिम समस्या की गहराई हो या भारतीय समाज में जातिवादी आग्रहों का प्रश्न, भाषा का मसला हो या किसानों मजदूरों की उपेक्षा का प्रश्न प्रेमचंद ने जोरदार दलीलों के साथ इन पर अपना पक्ष रखा. आजादी की आंदोलन के विकास के साथ-साथ सांप्रदायिकता भारतीय समाज की एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आ रही थी. उस दौर के अन्य सभी जागरूक चिंतकों की भांति प्रेमचंद भी उसकी गंभीरता को समझ रहे थे. दोनों पक्षों में बढ़ रही कट्टरता और ब्रितानी हुकूमत के षड्यंत्र को भी वे समझ रहे थे और इसके खिलाफ मुखर भी थे-

"सांप्रदायिकता के नाम पर मुसलमानों के लिए 25% स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं. हमारी समझ में तो इसका अर्थ यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयास कर रही है. वह नहीं चाहती कि हमें जीवन आ जाए. इस प्रकार सांप्रदायिकता का पोषण करके वह हमारी राष्ट्रीयता को हवा में उड़ा देना चाहती है. सरकार का यह रूप बड़ा भयावह है. ...इसका अर्थ यह नहीं है कि हम मुसलमानों की उन्नति के विरोधी हैं. हमें उनके लिए 25% स्थानों के सुरक्षित होने पर भी खेद नहीं है, खेद है इस सांप्रदायिक मनोवृति पर, जिससे राष्ट्रीयता का गला घुट रहा है. नौकरियों के इस प्रकार विभाजन से क्या होगा? सांप्रदायिक द्वेष की मनोवृति पनपेगी, धर्मांधता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जाएगा. मूल्य रहेगा तो सिर्फ सांप्रदायिकता का".[13]

प्रेमचंद अच्छी तरह जानते थे कि गांवों तक स्वाधीनता के महासमर को पहुंचाने के लिए वहां मौजूद दैत्याकार सामंती व्यवस्था को उखाड़ना कितना जरूरी था. इसके बिना गांव के युवाओं को राष्ट्रीय धारा में लाना कठिन था. युवाओं को स्वराज्य आंदोलन से जोड़ने और पाश्चात्य व्यामोह से अलग करने के लिए उन्होने लगातार लिखा. भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्वदेशी का नारा देते हुए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा उनके प्रति बढ़ रही लालसा के विरोध में जनमत बनाने का जो स्तुत्य प्रयास किया,[14] प्रेमचंद ने उसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए युवाओं को समझाने का प्रयास किया कि विदेशी वस्तुओं के प्रति उनका लगाव और उत्साह किस तरह उनमें दिशाहीनता पैदा कर रहा है और किस तरह देश का और स्वराज्य के आंदोलन का उससे नुकसान भी हो रहा है. अपने संपादकीय टिप्पणी में 'युवकों का कर्तव्य' के अंतर्गत उन्होंने युवकों को पाश्चात्य कुप्रवृत्तियों के साथ पुरानी जड़ रूढ़ियों को भी समूल नष्ट कर देने की सलाह दी -

"युवक नई दशाओं का प्रवर्तक हुआ करता है. संसार का इतिहास युवकों के साहस और शौर्य का इतिहास है. ...स्वराज्य वास्तव में तुम्हारे लिए है और तुम्हें उसके आंदोलन में प्रमुख भाग लेना चाहिए. गवर्नर और चांसेलर तुम्हें तरह-तरह के स्वार्थ में उपदेश देकर तुम्हें अपने कर्तव्य से हटाने की कोशिश करेंगे, आप पर हमें विश्वास है. तुम अपना नफा नुकसान समझते हो, और अपने जन्म अधिकार को एक प्याली भर दूध के लिए ना बेचोगे. ...सरल जीवन स्वाधीनता के संग्राम की तैयारी हो. जब हम अपने छात्रों का विलास प्रेम देखते हैं, तो हमें उनके विषय में बड़ी चिंता होती है. हर रोज अपनी जरूरतें बढ़ाते जाते हैं, विदेशी चीजों की चमक दमक ने उन्हें अपना गुलाम बना रखा है. जिस गाढ़ी कमाई को देशी व्यवसाय और धंधे में खर्च होना चाहिए था वह यूरोप चली जा रही है, और हम उन आदतों के गुलाम होकर अपना भविष्य खाक में मिला रहे हैं. शौक और श्रृंगार के बंदे जिंदगी में कभी स्वाधीनता का अनुभव कर सकते हैं, हमें इसमें संदेह है. ...विद्यालय से निकलते ही उन्हें नौकरी चाहिए. इसके लिए वह हर तरह की खुशामद और नकघिसनी करने को तैयार हैं. नौकरी मिल गई तो उन्हें अपने जरूरतों को पूरा करने के लिए ऊपरी आमदनी की फिक्र होती है. उनकी आत्मा की स्वतंत्रता, शौक की वेदी पर चढ़ा दी जाती है. दुनिया के जितने बड़े से बड़े महापुरुष हो गए हैं, और हैं, वे जीवन की सरलता का उपदेश देते आए हैं, और दे रहे हैं".[15]

प्रेमचंद के समय तक हालात बदलने लगे थे अंग्रेजी के प्रति बढ़ती ललक और भोग वृति का एक कुत्सित संसार हमारे सामने प्रकट होने लगा था. सामर्थ्यवान और पढ़े-लिखे लोग आमतौर पर अपनी सभ्यता और संस्कृति से विमुख हो रहे थे. प्रेमचंद इसे लेकर चिंतित थे और वे लगातार इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास कर रहे थे.

यूरोपीय किस्म के पूंजीवाद एक बड़ी सफलता कही जा सकती है कि उसने तीसरी दुनिया के देशों आरंभ से ही इनके शिक्षा, प्रशासन, राजनीति एवं संस्कृति में पश्चिमीकरण की एक प्रवृत्ति पैदा की. उसके प्रति एक ऐसा एक ऐसा लालच, एक ऐसा आकर्षण पैदा किया जिसके वशीभूत हो वहां की सभी चीजों का अनुकरण ज्यादा होने लगा, जिसमें सोच और विचार की प्रवृति कम थी, गंभीरता कम थी. नकल और सतही सोच पर आधारित इस संस्कृति में आत्मविश्वास की बजाय सिर्फ प्रदर्शन और अंधानुकरण करके बड़ा बनने की सोच अधिक थी, जो यहां की नैतिक शक्ति को कमजोर कर रही थी, आत्मविश्वास को कमजोर कर रही थी. प्रेमचंद ने उसे पहचाना और उसके विरुद्ध अभियान चलाया. अंग्रेजी की पैरवी करने वालों पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा:

"वाह! क्या भाषा है! क्या लोच है! कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति है, शब्दों का भंडार कितना विशाल है, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शी, गद्य कितना अर्थबोधक है. जिसे देखो अंग्रेजी जबान पर लट्टू और उसके नाम पर कुर्बान है."[16]

प्रेमचंद ने एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण के लिए पूरे देश की एक राष्ट्रभाषा बनाने पर बल दिया. उनका सबसे अधिक जोर इस बात पर था कि भारतीयों को अपनी भाषा पर गर्व होना चाहिए. उन्होंने यह देख लिया था कि विदेशी भाषा के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा का असर सिर्फ भाषाई रूप में नहीं बल्कि पूरी तरह सांस्कृतिक रूप में हमारे सामने पतनशील प्रवृत्तियों के रूप में आ रहा था. यह किसी भी तरह से स्वराज्य के आंदोलन में सहायक होने के बजाय उसके विपरीत कार्य कर रहा था. 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'- भारतेंदु की इस पंक्ति को प्रेमचंद पूरे मन से अपने लेखन में और अपने जन चेतना के प्रचार प्रसार के अभियान में शामिल कर रहे थे और उसे आगे बढ़ा रहे थे. 'हंस' को प्रेमचंद ने हिन्दी का उन्नायक बनाते हुए उसे अखिल भारतीय पत्रिका बनाने का यथासंभव प्रयास किया जिसमें भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच अपनापा हो, मैत्री हो और वे एक दूसरे के समानान्तर नहीं बल्कि सर्वसमावेशी ढंग से विकास कर सकें. प्रेमचंद का यह प्रयास रंग भी लाया और 'हंस' को अखिल भारतीय भाषाओं का मुखपत्र बन गया. भाषा के प्रश्न पर प्रेमचंद ने बड़ी ही संजीदगी परंतु आक्रामक ढंग से कार्य किया. उन्होने अँग्रेजी के प्रभुत्व पर लिखा-

"हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है. कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नजर नहीं आती. सभी जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूंग दल रही है. अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सके तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जाएगा".[17]

राष्ट्र की एकता, स्वाधीनता और मजबूती के लिए एक राष्ट्रभाषा की जरूरत तथा उसके स्वरूप, अन्य भाषाओं से उसके परस्पर संबंध पर बल देते हुए 'हंस' में प्रेमचंद लिखते हैं-

"जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपके आपको स्वराज्य के दर्शन हो जाएंगे. मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र, विदेशी भाषा के बल पर के स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो. राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है. नदी, पहाड़ और झरने राष्ट्र नहीं बनाते. भाषा ही वह बंधन है जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रखती है, और उसको बिखरने नहीं देती. ...अगर हम एक राष्ट्र या फिर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र-भाषा का आश्रय लेना होगा. उसी राष्ट्रभाषा के माध्यम से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे. ...राष्ट्रभाषा से हमारा आशय है ...इसे हिंदी कहिए, हिंदुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है. नाम से हमारा कोई बहस नहीं. ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्र-भाषा में दोनों के लिए समान रूप से स्थान मिलना चाहिए".[18]

प्रेमचंद की भाषायी एकता का फार्मूला देखते ही बनता है. वस्तुत: प्रेमचंद गांधी के 'हिन्दुस्तानी' के फार्मूले को आगे बढ़ाते हैं.[19] जिस भाषा को भारतीय समाज में भेद का आधार तैयार किया जा रहा था प्रेमचंद उसी भाषा को एकता का सूत्र बनाने पर तुले हुए थे. इस संदर्भ में 'हंस' की यह टिप्पणी देखने और विचारने लायक है- "जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हो या एंग्लो सेक्शन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भांति हिंदुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों के मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती. साधारण बात-चीत में तो हम हिंदुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं. थोड़ी सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का संबंध है".[20]

प्रेमचंद जिस समय लिख रहे थे यह एक तरफ अगर आजादी के आंदोलन के नाम पर एकता की आवाजों का समय था तो दूसरी ओर भाषा, जाति और धर्म ने नाम पर अलगाव की आवाजें भी सिर उठा रही थीं. सांस्कृतिक और जातीय

विविधताओं के नाम पर नए स्वामी वर्ग के उदय की स्थितियाँ भी पैदा हो रही थीं. प्रेमचंद यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि किस तरह भारतीय समाज समाज में व्याप्त अनेक शक्तियों को सत्य को एक साथ जोड़ना कितना चुनौती भरा था. एक तरफ जिन्ना थे तो दूसरी तरफ हिन्दू महासभा जैसी संस्थाएं भी थीं, इसके अतिरिक्त अंबेडकर थे, पेरियार थे, भाषा को लेकर होने वाली समस्याएं थी, जातिभेद, सांप्रदायिकता के बहुत सारे सूत्र भी थे. इन सबके साथ ही विलायती सरकार पसंद जमींदारों और भू स्वामियों का एक तबका भी था, साम्राज्यवादी शासन था जिसका अपना सत्य, अपना एजेंडा था. इन सभी शक्तियों को एकसाथ जोड़कर एक ऐसे सत्य का निर्माण करना था जिसमें भारत की आजादी हो उसमें स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व हो, उसकी अपनी संप्रभुता हो. इसके लिए अनंत दरारों को भरते हुए एक समतल जमीन की तलाश करनी थी या कहें बनानी थी, जिस पर स्वाधीन भारत का उदय होता.

भूमंडलीकरण के दौर में जबकि राजनीति, साहित्य, पत्रकारिता, दर्शन इत्यादि हर चीज में मनोरंजन और लाभ का दर्शन प्रभावी हो रहा है. मुक्त व्यापार और उपभोक्ता के सर्वाधिकार खासकर उसके चयन की आजादी के पक्ष में आवाजों के नाम पर अनेक प्रपंच रचे जा रहे हैं, मनोरंजन की आजादी के नाम पर मनमाने मनोरंजक चैनल, ओटीटी प्लेटफार्म, वेब सीरीज, वीडियो स्ट्रीमिंग और ऐसे असंख्य अनियंत्रित इलेक्ट्रानिक संसाधनों की भरमार होती जा रही है, यह स्थिति समाज के लिए सोचने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए चिंतनीय है. ऐसे समय में सिनेमा को लेकर प्रेमचंद की चिंता देखने योग्य है, जो स्पष्ट संदेश देने वाला है -

"प्रत्येक राष्ट्र का फर्ज हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखें और इसे केवल धन लुटेरों ही के हाथ में ना छोड़ दे. व्यवसाय का नियम है कि जनता में जो माल ज्यादा खत्म उसकी तैयारी में लगे... अगर जनता को ताड़ी-शराब से रुचि है तो वह ताड़ी और शराब की दुकान खोलेगा और खूब कमाएगा. उसे इससे प्रयोजन नहीं की ताड़ी या शराब से जनता को कितनी दैहिक, आत्मिक, चारित्रिक, आर्थिक और पारिवारिक हानि पहुंचती है".[21]

जाहिर है प्रेमचंद एक साधन के रूप में सिनेमा की जरूरी भूमिका से इंकार नहीं करते लेकिन व्यावसायिकता के नाम पर सिनेमा के मनमाने आचरण पर अपनी चिंता, अपना आक्रोश भी खुलकर व्यक्त करते हैं-

जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं जो प्रलोभनों को पैरों तले रौंदते और कठिनाइयों को धकिआते हुए निकल जाते हैं तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है. ...अगर सिनेमा इसी आदर्श को सामने रखकर अपने चित्रों की सृष्टि करता तो आज वह संसार का सबसे ऊर्जावान संचालक शक्ति होता; मगर खेद है इसे कोई व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊंचे मीनार से खींच कर ताड़ी या शराब की दुकान पर की सतह पर पहुंचा दिया है.[22]

राजनीति और भ्रष्टाचार के रिश्तों की कहानी बहुत पुरानी है. राजनीतिक दलों द्वारा चंदे की नाम पर पूंजीपति मित्रों से धन प्राप्त करना, फिर चुनावों में इसका उपयोग करते हुए जनमत को अपनी ओर मोड़ना और सत्ता मिलने पर उन पूंजीपति मित्रों की अनेक प्रकार से खातिरदारी करना- यह स्टीरियो टाइप कहानी सत्ता की आम कहानी रही है. इसे राजनीति और रिश्वत का अंत:संबंध कहा जाय तो गलत नहीं होगा. यह राजनीति का पुराना रोग विश्वव्यापी है, जिसे चंदे की आड़ में अक्सर छुपा दिया जाता है. इसको लेकर 'हंस' के संपादकीय कालम की टिप्पणी विचारणीय है-

"वर्तमान राजनीति में रिश्वत भी एक जरूरी है. क्या इंग्लैंड, क्या फ्रांस, क्या जापान, सभी सभ्य और उन्नत देशों में यह दिन दिन बढ़ता जा रहा है. चुनाव लड़ने के लिए बड़े-बड़े लोग जमा किए जाते हैं और वोटरों से वोट के लिए सभी तरह के प्रलोभन से काम लिया जाता है."[23]

प्रेमचंद की पूरी पत्रकारिता में यह समझ साफ थी कि भारतीय राष्ट्रवाद किसी एक समूह या समुदाय की कल्पना की ऊपज नहीं हो सकता था अपितु यह विभिन्न समुदायों जातियों समूह के सम्मिलित एवं सर्व समावेशी दृष्टि के इकट्ठे संघर्ष का परिणाम था. प्रेमचंद यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि इस समावेशी दृष्टि की मजबूती के बगैर ना तो स्वराज्य का संघर्ष अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाएगा, ना ही राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के उपरांत वह जिस आदर्श राष्ट्र का स्वप्न देख रहे थे उसे पूरा कर पाएगा. यही नहीं प्रेमचंद की दृष्टि अपने समय से काफी आगे की थी, वे यह स्पष्ट देख पा रहे थे कि आने वाले वक्त में पूरी दुनिया के आपसी संबंधों की महता किस प्रकार महत्वपूर्ण होने वाली है. इसलिए वे अंध राष्ट्रीयता के समर्थक भी नहीं बनना चाहते थे, अपितु राष्ट्रीयता को विश्व बंधुत्व के साथ जोड़ कर देखने की दृष्टि के समर्थक थे -

यदि आज संसार सच्ची राष्ट्रीयता को मुख्य वस्तु मान ले, तो हम वास्तविक रूप से विश्व बंधुत्व के पथ पर अग्रसर हों, क्योंकि शांति और भाईचारे में ही सर्वसाधारण का लाभ है.[24]

प्रेमचंद के लिए लिखना एक सांस्कृतिक कर्म था.[25] उन्होने लिखने का जोखिम भरा रास्ता अपनाया. इस जोखिम ने उन्हें भौतिक सुविधाएं और धन तो नहीं दिया, बल्कि कठिनाइयाँ दीं, लेकिन साथ ही शोहरत भी बहुत दी. प्रेमचंद की शुरुआत भले ही आदर्शवादी सुधारवादी नजरिए से हुई लेकिन धीरे-धीरे वे बुनियादी परिवर्तन की सोच की ओर बढ़ गए. अपने कलाम से गुलाम भारत की तस्वीर दिखाने वाले प्रेमचंद कैमरा रोल की तरह ऊपर-ऊपर से स्थितियों को नहीं देखते बल्कि उनकी तह में उतरते हैं. प्रेमचंद बखूबी यह देख पाते हैं कि पतनशील सामंती प्रवृतियाँ और विदेशी पराधीनता ने भारतीय समाज को किस हद तक जकड़ रखा है और इनसे मुक्ति के बिना आमजन की मुक्ति नहीं. प्रेमचंद का पूरा जीवन, उनका कथाकार रूप और उनका पत्रकार भी इसी संघर्ष को आगे बढ़ाते हैं. इस मुक्ति के एजेंडे में किसान, मजदूर, स्त्रियाँ, दलित समेत वे सभी समूह शामिल हैं जो सदियों से उपेक्षा, अभाव, असम्मान और हाशिये का जीवन जीने को विवश हैं. प्रेमचंदीय पत्रकारिता ऐसे वंचितों, उपेक्षितों की आवाज है. प्रेमचंद इस आवाज को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से उठाते हैं, इस प्रक्रिया में विभिन्न अवरोधकों का निडरता और साहस से सामना करते हैं और पत्रकारिता का सर्वोत्तम आदर्श लोगों के सामने रखते हैं.

प्रेमचंद जिस समता आधारित आधुनिक राष्ट्र का स्वप्न रचते हैं, अपनी पत्रकारिता के द्वारा उसे जमीन पर उतारने का भरसक प्रयास भी कराते हैं. उनकी अभिव्यक्ति शैली बेजोड़ है. बड़ी से बड़ी बात को भी बड़ी सरलता और निर्भीकता से कह जाते हैं. उनके अंदर एक संवाद की शैली मौजूद है जो उनकी कहानियों में ही नहीं बल्कि लेखों और टिप्पणियों में भी पठनीयता को रोचक बनाकर बढ़ा देता है, लेकिन वे इस बात का भी भरपूर ध्यान रखते हैं कि लेखन का भाव और उसकी गंभीरता का असर सभी तरह के पाठकों पर एक सा होता है. प्रेमचंद के सोचने और लिखने की भाषा इतनी सरल परंतु अभिव्यक्तिजन्य है कि साधारण से साधारण और सुशिक्षित पाठकों तक पर उनका गहरा असर होता है.

"बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ ना कुछ अंतर होता है; लेकिन लिखित भाषा सदैव बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है. लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले. इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है. बोल-चाल की भाषा भी अवसर और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है. विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है. शिष्ट भाषा की कुछ न कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं कि उसे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े."[26]

प्रेमचंद का कथा साहित्य हो या उनकी संपादकीय टिप्पणियाँ, यहाँ तक कि उनके पत्रों तक में संक्षिप्तता के बावजूद गज़ब की अभिव्यंजनात्मक क्षमता है. प्रेमचंद की लेखनी का जादू का सा असर होता है, वह समाज की मान्यताओं को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में नवीनीकृत करते चलते हैं. पठनीयता के आकर्षण के साथ ही जीवन के प्रति उपयोगिता, उनके लेखन का प्रमुख तत्त्व है. वे यथार्थ का चित्रण करते हैं तो इसलिए कि उसकी कमियों की शल्य-चिकित्सा की जा सके और और उनकी अनुपयोगिता साबित कर जनसामान्य के हित में उन्हे बदला जा सके. प्रेमचंद से बेहतर रिपोर्टिंग शायद ही कोई कर सके और इसमें पब्लिक कंसर्न जुड़ जाए तो इसकी मिसाल ढूँढना और भी कठिन हो जाता है.

प्रेमचंद ने अपनी पत्रकारिता का एक बड़ा और महत्वपूर्ण समय 'हंस' को दिया और उसे अपनी सोच और आदर्शों के अनुरूप हिंदुस्तान की अखिल भारतीय पत्रिका बनाने का हरसंभव प्रयास किया. 'हंस' का पाठक होने का अर्थ था, एक ऐसा जागरूक और सचेत पाठक जिसे अपने आसपास, देश दुनिया की घटनाओं के प्रति ना सिर्फ जानकारी होती अपितु उनका सम्यक विश्लेषण करने की सामर्थ्य के साथ देश और समाज के निर्माण में अपूर्व योगदान देने के लिए तत्पर होना. 'हंस' ने बिना किसी डर, भय, लोभ या चिंता के वह सबकुछ अपने पाठकों को दिया जो एक जिम्मेदार मासिक पत्रिका से उम्मीद की जा सकती है. 'हंस' को पढ़ने का अर्थ है उस युग के इतिहास को युगबोध के साथ पढ़ना और बेहतर भविष्य की इबारत लिखने को तत्पर रहना. राष्ट्र निर्माण की दिशा में स्वराज्य आंदोलन के संघर्ष से लेकर, भारतीय समाज की संस्कृति, उसके नैतिक और मानसिक विकास के साथ ही आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर एक सशक्त राष्ट्र बनाने की जो भावभूमि प्रेमचंद तैयार कर रहे थे, जहां सही मायनों में समाज के हाशिये पर के लोगों किसानों, मजदूरों और मेहनतकश अवाम को भी सुविधाओं और सम्मान की ज़िंदगी मिल सके और एक सर्वसमावेशी समाज का निर्माण हो सके. प्रेमचंद और 'हंस' ने संघर्ष, चिंतन और पत्रकारिता के उन उच्चतम मानकों को स्थापित किया जो आज हमें प्रेरणा देते हैं, सबक देते हैं, हमारा मार्गदर्शन करते हैं. भारतीय पत्रकारिता और राष्ट्रीयता की कोई भी कहानी प्रेमचंद और उनके 'हंस' के इस योगदान की चर्चा के बिना अधूरी रहेगी.

संदर्भ

1. 'हंस' के पाँच अंक निकलते ही उसपर जमानत की तलवार लटका दी गयी, पुन: 1932 एवं 1936 में भी 'हंस' को इन्हीं स्थितियों से गुजरना पड़ा. 1936 के जून और जुलाई अंकों में प्रकाशित सेठ गोविंद दास के नाटक 'सिद्धांत स्वातंत्र्य' को युक्त प्रांतीय सरकार ने आपत्तिजनक बताते हैं हुए ₹1000 की नकद जमानत मांगी. (हंसवाणी, हंस, अगस्त 1936)
2. पृष्ठ-6, हिन्दी पत्रकारिता- कृष्ण बिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
3. पृष्ठ-63-64, हंसवाणी, (हंस का जन्म और उसकी नीति), हंस, प्रथमांक, मार्च 1930
4. पृष्ठ-63-64, (डोमिनियन और स्वराज) हंसवाणी, हंस, प्रथमांक, मार्च 1930
5. प्रेमचंद अपने समकालीन लेखकों को लगातार पत्र लिखकर 'हंस' में लेखकीय योगदान के लिए निवेदन कराते रहते थे. जयशंकर प्रसाद, जनार्दन झा द्विज, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, शिवपूजन सहाय, विनोद शंकर व्यास, दयानारायण निगम, बहादुर चंद छाबड़ा इत्यादि अनेक लेखकों को इस संदर्भ में लिखे गए पत्र इसकी गवाही देते हैं. प्रेमचंद पत्र-कोश, डॉ. कमलकिशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, 2007 एवं प्रेमचंद पत्रों में - संकलन-संपादन- मंगलमूर्ति, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
6. पृष्ठ 17, (स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है- प्रेमचंद) हंस, नवंबर 1930
7. पृष्ठ-69, हंसवाणी, हंस, अप्रैल 1930
8. पृष्ठ 18-19, हंस, नवंबर 1930
9. कुछ लोग स्वराज आंदोलन से इसलिए घबरा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जाएगी. इनमें अधिकांश हमारे जमींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और रुपए वाले लोग शामिल हैं. उन्हें भय है कि अगर आंदोलन सफल हो गया तो जमींदारी छीन जाएगी, नौकरी से अलग कर दिए जाएंगे, धन जप्त कर लिया जाएगा, इसलिए इस आंदोलन को सिर ना उठाने दिया जाए. उन्हें ब्रिटिश सरकार के बने रहने में अपनी कुशल नजर आती है. (स्वराज्य से किसका अहित होगा?) पृष्ठ 7-9, हंस, अप्रैल 1930
10. पृष्ठ 36, वीरवर अब्दुल करीम और साम्राज्यवाद (कामेश्वर शर्मा'कमल'), हंस, सितंबर 1934
11. पृष्ठ 84, जड़वाद और आत्मवाद, हंस, अक्तूबर 1934
12. पृष्ठ 61 (आध्यात्मिकता का विष) हंस, अप्रैल 1935,
13. पृष्ठ-139, हंसवाणी, हंस, अप्रैल 1930
14. पृष्ठ-1091, भारतेन्दु समग्र, संपादक-हेमंत शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, तृतीय संस्करण 1989
15. पृष्ठ-64, (युवकों का कर्तव्य) हंसवाणी, हंस, प्रथमांक, मार्च 1930
16. पृष्ठ. 65, हंसवाणी, हंस, जुलाई 34
17. पृष्ठ55, हंसवाणी, हंस, जनवरी 1935
18. पृष्ठ-57-58, (राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ) हंसवाणी, जनवरी 1935
19. पृष्ठ- 51, भारतीय अस्मिता और हिन्दी-शंभुनाथ, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2012
20. पृष्ठ 48, कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार, हंस, नवंबर 1934
21. पृष्ठ 72, (सिनेमा और जीवन) हंसवाणी, हंस, मार्च, 1935
22. पृष्ठ 73, हंसवाणी, हंस, मार्च, 1935, सिनेमा और जीवन
23. पृष्ठ-65, (राजनीति और रिश्वत) हंसवाणी, हंस, प्रथमांक, मार्च 1930
24. पृष्ठ 54, मुक्ता मंजूषा(हमारी राष्ट्रीयता- माधुरी,जुलाई), हंस, अगस्त 34
25. पृष्ठ-15, कहानीकार प्रेमचंद, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
26. पृष्ठ 50, कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार, हंस, नवंबर 1934